© 2018 IJSRSET | Volume 4 | Issue 1 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099
Themed Section : Engineering and Technology

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति

शैलेश कुमार द्विवेदी
शोधच्छात्र
संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

गीता–ज्ञान का सार भक्ति है; भक्ति गीता का हृदय है। गीता के उपदेश का प्रारम्भ प्रपत्ति या शरणागति से हाता है, जब अर्जुन धर्म के विषय में मोहग्रस्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता है– 'मै आपका शिष्य हूँ। आपका प्रपन्न हूँ अर्थात् आपकी शरण में आया हूँ। आप कृपया अपने सदुपदेश से मेरा मोह दूर करें।[1] गीता के मध्य में भी नवे अध्याय में भक्ति को 'राजविद्या' और 'राजगुह्ययोग' बताकर शरणगति (मत्परायणः) की महिमा प्रतिष्ठित की गई है।[2] गीता का पर्यवसान भी शराणागति में ही हुआ है, जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अन्तिम अष्टादश अध्याय के अन्त में अपने उपदेश का समापन इस प्रकार किया है–' हे अर्जुन! अब तू मेरे सर्वाधिक गोपनीय परम रहस्यमय इस वचन को सुन कि तू सब कुछ छोड़कर मेरी अनन्य शरण में आ जा, तू निश्चय ही मुझे प्राप्त होगा।[3]

गीता का भक्तियोग ज्ञान और कर्म से अनुप्राणित है। परा भक्ति, पर ज्ञान औन निष्काम कर्म वस्तुतः एक ही हैं, क्योंकि तीनों का अर्थ है– निर्विकल्पक अपरोक्ष आत्मानुभूति। भक्ति, ज्ञान और कर्म का भेद लौकिक व्यवहार में ही है, क्योंकि अपनी चरम अवस्था में ये सभी अपरोक्षानुभूति में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार गीता ने इनका समन्वय करके साधना मार्ग को भी सरल, सुबोध और सुगम बना दिया है। लौकिक ज्ञान बुद्धि–विकल्प–जन्य है और ज्ञातृज्ञेयद्वैत पर टिका है; परज्ञान अद्वैत निर्विकल्प अनुभूति है। भक्ति का सामान्य अर्थ भगवान् का भजन, सेवा, स्मरण है, और यह भी भक्त और भगवान् के द्वैत पर टिकी है;, किन्तु परा भक्ति में अखण्डज्ञानानन्दरूप भगवत्स्वरूप में भक्त और भगवान् एकाकार हो जाते हैं। लौकिक कर्म में कामना बनी रहती है और यह कर्तृ–कर्म–द्वैत पर टिका है; निष्काम कर्म कामनारहित और कर्तृत्वाभिमानशून्य होने से जीवन्मुक्ति की अद्वैत स्थिति का द्योतक है।

भक्त भगवत्कृपा और भगवद्वचनों से आश्वस्त रहता है। भगवान् की अनन्य शरण में जाने पर भगवान् ही उसका 'घ्यान' रखते हैं। गीता में भगवान् ने बारम्बार इस प्रकार आश्वासन दिये हैं–'मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।[4] कल्याणकर्म करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।[5] यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी निश्छल रूप से मेरा भजन करने लगे, तो उसे साधु ही मानना चाहिए क्योंकि वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता

है।[6] इस अनित्य और सुखरहित लोक में मेरा भजन करना चाहिए।[7] हे अर्जुन! तूम मुझमें ही निरन्तर मन लगा, मेरा भजन कर, मुझे अर्पण करके कर्मों द्वारा मेरा यजन कर, मुझे ही प्रणाम कर, तू मेरी अनन्य शरण में आ जा और अपनी आत्मा को मुझमें प्रतिष्ठित कर दे, तू मुझे ही प्राप्त होगा।[8] मुझमें निरन्तर अपना मन लगाने वाले भक्तों का मैं शीघ्र ही जन्ममरणरूप इस संसार–सागर में उद्धार करता हूँ।[9] अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी, इन चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसकी मुझमें अनन्य भक्ति होती है, अतः उसे मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और मुझे वह अत्यन्त प्रिय है।[10]

भक्ति का अर्थ उपासना किया जाता है। उपासना का अर्थ है भगवान् का निरन्तर ध्यान, भगवान् का तैलधारावत् निरन्तर स्मरण। नाम–जप से स्मरण पुष्ट होता है। निरन्तर स्मरण से भगवान् प्रसन्न होकर अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। अखण्डचिदानन्द की अपरोक्षानुभूति में भक्त का भगवान् से एकीभाव हो जाता है। इस प्रकार परा भक्ति और परज्ञान में कोई भेद नहीं रहता। गीता ने बार–बार भक्ति और ज्ञान की एकता प्रतिपादित की है। गीता का 'अनन्य भक्ति' पर बहुत आग्रह है। अनन्य भक्ति से ही भगवत्स्वरूप का ज्ञान और भगवत्प्राप्ति तथा भगवान् से तादात्म्य सम्भव है। ज्ञानी को भगवान् ने अनन्य भक्त (एकभक्तिः) और आत्मस्वरूप (आत्मैव में) बताया है। 'जो भक्त अनन्य भक्ति से मेरा निरन्तर चिंतन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनकी भगवत्प्राप्ति (योग) और उसकी साधना (क्षेम) की मैं रक्षा करता हूँ।'[11] जो भक्त अनन्य योग से मेरा ध्यान और उपासना करते हैं, मैं जन्ममृत्युरूप संसार–सागर से उनका उद्धार करता हूँ।[12] हे अर्जुन! अनन्य भक्ति से ही मेरा तात्त्विक ज्ञान किया जा सकता है, मेरा प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है, और मुझमें प्रवेश करके मुझसे एकाकार हुआ जा सकता है।[13] भगवत्दर्पणबुद्धि से कर्म करने से और भगवान् का निरन्तर ध्यान करने से साधक को ब्रह्मभाव का बोध होने लगता है, इस बोध से अनन्य भक्ति का उदय होता है, अनन्य भक्ति से भगवान् का तात्विक ज्ञान होता है, और इस ज्ञान के उदय होते ही भक्त भगवान् में प्रवेश कर जाता है अर्थात् भगवान् से उसका एकीभाव हो जाता है।[14] यद्यपि परज्ञान और पराभक्ति एक ही हैं और ज्ञान तथा भक्ति का चरम लक्ष्य भी भगवत्प्राप्ति ही है, तथापि निर्गुण उपासना को गीता 'अधिकक्लेशयुक्त' और कठिन बनाती है एवं सगुण उपासना का उपदेश देती है।[15] गीता का प्रपत्ति या शरणागति पर अत्यन्त बल है। सच्चे हृदय से भगवान् की शरण लेने पर सब कुछ वे ही संभाल लेते हैं, साधना के द्वार खुलते जाते हैं और अन्त में भगवद्नुग्रह से भगवत्प्राप्ति हो जाती है।' गीता में भगवान् ने अर्जुन को जो अन्तिम परमगुह्य उपदेश दिया वह है– 'हे अर्जुन! तू मुझमें निरन्तर मन लगाये रह, मेरी अनन्य भक्ति कर, मुझे सर्वस्व अर्पण कर, मुझे ही प्रणाम कर, ऐसा करने से तू निश्चय ही मुझे प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है क्योंकि तू मुझे अत्यन्त प्रिय है। तू सब धर्मों को (कर्मों को) त्याग कर मेरी अनन्य शरण में आ जा, मैं तुझे सारे पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।[16]

सन्दर्भ सूची

1. शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। गीता 2–7
2. गीता, 9–34
3. मामेकं शरणं व्रज। गीता, 18–64,6
4. न मे भक्तः प्रणश्यति। गीता, 9–31
5. गीता, 6–40
6. गीता, 9–30,31
7. गीता, 9–33
8. गीता, 9–34, मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।
9. तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। गीता, 12–7
10. गीता, 7–16,17
11. गीता, 9–22
12. गीता, 12–6,7
13. भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
    ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।, गीता, 11–54
14. गीता, 18–54, 55, ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा.....मद्भक्ति लभते पराम्।
    भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
    ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।
15. गीता, 12–5,6, 7, 8
16. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
    अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। गीता, 18, 65, 66